ISSN (Online) 2582-9327

IJARSCMT

International Journal of Advanced Research in Science, Commerce, Management and Technology

Impact Factor: 5.781

Volume 3, Issue 7, July 2022

न्यायदर्शन : महर्षि गौतम

डॉ. अनामिका चतुर्वेदी

अतिथि विद्वान् (संस्कृत साहित्य),

शासकीय संस्कृत महाविद्यालय, इन्दौर (म.प्र.)

शोध–सारांशः–

महर्षि गौतम के द्वारा न्यायदर्शन की रचना की गयी है, तत्वज्ञान का जो साधन होता है, वह दर्शन नाम से अभिहित होता है। छः भारतीय दर्शनों में न्यायदर्शन का अपना विशिष्ट स्थान रखता है। महर्षि गौतम का एक अपर नाम अक्षपाद भी है। शोध पत्र में महर्षि गौतम के द्वारा न्यायदर्शन की रचना का संक्षिप्त वर्णन करने का मौलिक प्रयास है।

मुख्य शब्द : न्यायदर्शन, महर्षि, गौतम, अक्षपाद, अभिहित, चिन्तन निःश्रेयसाधिगम आदि।

प्रस्तावनाः

महर्षि गौतम के द्वारा तत्वज्ञान की जो साधन होती है, वह दर्शन नाम से अभिहित होता है। महर्षि गौतम के विषय में यहाँ उल्लेखनीय है कि– वे अपने दर्शन के चिन्तन में निरन्तर तल्लीन रहते थे, वाह्यजगत् में रहते हुए भी ये जगत् से असम्पृक्त ही थे, एक बार अपने चिन्तन में मग्न होकर चले जा रहे थे और सहसा एक जल विहीन कूप में गिर पड़े, वहाँ भी इनका शास्त्रचिन्तन अनवरत चलता रहा। दैवयोग से इनको वहाँ किसी व्यक्ति विशेष ने ईश्वरीय प्रेरणा से कूप से निकाला और प्रभुकृपा से इनको ये आशीर्वाद प्राप्त हुआ कि अब इन महर्षि के चरणों में दर्शन शक्ति आ गयी जिसके प्रभाव से तदत्र प्रभृति इनके चरण उत्पथ पर नहीं पड़े और अपरनाम अक्षपाद विश्रुत हो गया।

'प्रमाणैरर्थ परीक्षणं न्यायः'[1]

अर्थात् प्रमाणों के द्वारा अर्थ की परीक्षा को न्याय कहा जाता है, न्यायशास्त्र को तर्कशास्त्र के नाम से भी जाना जाता है–

'तर्क्यन्ते प्रमिति विषयी क्रियन्ते इति तर्काः द्रव्यादि पदार्थाः

इस दर्शन में प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन आदि षोडश पदार्थों को स्वीकार किया गया है, और इन पदार्थों के यथार्थ ज्ञान से निःश्रेयसाधिगम अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है।

दुःखों का आत्यन्तिक विनाश जिस अवस्था में प्राप्त होता है, उसे मोक्ष कहा जाता है, दुःखों की संख्या इक्कीस मानी गयी है। शरीर मन सहित श्रोत्रादि छः ज्ञानेन्द्रिया शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध एवं दुःख ये छः

विषय हैं। छः प्रकार की बुद्धियाँ सुख एवं दुःख इस प्रकार इक्कीस दुखों का गणन किया गया है। मोक्षाधिगम के लिए आत्मा का श्रवण, मनन, निदिध्यासन अत्यन्त आवश्यक है जैसा की उपनिषद् वचन उद्घोषित करता है कि –

'आत्मा वाऽअरे द्रष्टव्यःश्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'[2]

इस आर्ष वचनानुसार श्रवण मननादि आत्मज्ञान में परमोपयोगी है, और ये आत्मज्ञान के साधन श्रवणादि पदार्थ ज्ञान में संघटित होते है। जब साधक प्रमाता को तत्वज्ञान का साक्षात्कार होता है, तो देह गेह पुत्रादि में जो स्वीयत्व का अभिमान स्वरूप मिथ्याज्ञान है, उसका आत्यन्तिक विनाश हो जाता है। मिथ्याज्ञान का नाश दोषों के अभाव में हेतु माना गया है, दोषाभाव के कारण जीवात्मा की प्रवृत्ति का उदय नहीं होता, और ऐसे महान साधक के भोग एवं तत्वज्ञान से प्रारब्ध एवं सञ्चित कर्मों का विनाश हो जाता है। कर्मनाश ही जन्म के अभाव का हेतु होता है और यह मोक्ष की अवस्था कही जाती है। आत्मसाक्षात्कार होने पर साधक को तत्क्षण परमात्म साक्षात्कार होता है और परमात्मा को जानकर ही जीवात्मा मृत्यु से परे पहुँच जाता है।

'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेतिनान्यः पन्थाविद्यतेऽनाय'[3]

अर्थात् उस परमात्मा को जानकर ही जीव मृत्यु को पार करता है। अन्यथा की स्थिति में तो–

पुनरऽपिजननं पुनरऽपिमरणं।

पुनरऽपि जननी जठरे शयनम्।।[4]

अर्थात् पुनः पुनः जन्म मरणादि के प्रवाह चक्र में जीवात्मा उच्चावच नाना योनियों में अदृष्टवश गमनागमन करता है। इसी आशय से प्राणीमात्र के परम हितैषी महर्षि गौतम प्रथम सूत्र में पदार्थों के वास्तविक ज्ञान से मोक्षलाभ का प्रवचन करते है। इस प्रकार इस शास्त्र से दुःख निवृत्ति को साध्य माना है। महर्षि गौतम ने ग्रन्थ के प्रथम सूत्र में सोलह पदार्थों का उद्देश्य रूप से कथन किया है। न्यायदर्शन का मन्तव्य है कि प्रमेय की सिद्धि प्रमाणों के द्वारा ही संभव है। यह दर्शन प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं शब्द इन चार प्रमाणों को स्वीकार करता है।

प्रत्यक्षज्ञान के असाधारण कारण को प्रत्यक्ष ज्ञान कहा जाता है।

'प्रत्यक्षज्ञान करणं प्रत्यक्षम्'[5]

इन्द्रिय एवं पदार्थ के संबन्ध से उत्पन्न होने वाला ज्ञान ही प्रत्यक्ष ज्ञान कहा जाता है निर्विकल्पक एवं सविकल्पक ये दो भेद प्रत्यक्ष के माने गये है। विशेषण विशेष्य एवं सम्बन्ध से रहित जो ज्ञान है वह निर्विकल्पक होता है यथा–

जब किसी पदार्थ का प्राथमिक दर्शन हमें प्राप्त होता है, तो हम सोचते हैं, कि यह कुछ है ''इदं किञ्चित्'' यही सामान्य ज्ञान निर्विकल्पक है। सविकल्पक प्रत्यक्ष उसे कहा जाता है, जिस प्रत्यक्ष (ज्ञान) में नाम, जाति, विशेषण तथा विशेष्य के संबंध से युक्त ज्ञान होता है– यथा यह देवदत्त है, यह गाय है इत्यादि। इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष (सम्बन्ध) संयोगादि भेद से षड्विध माना गया है। अनुमिति का असाधारण कारण ही

अनुमान नाम से प्रसिद्ध है। परामर्श से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को अनुमिति कहा गया है। व्यक्ति विशिष्ट पक्षधर्मता ज्ञान को परामर्श तथा व्याप्य (साध्य) अग्नि आदि की व्यप्ति से युक्त धूमादि के पर्वत में रहने को पक्षधर्मता कहते है। स्वार्थ एवं परार्थ भेद से अनुमान द्विविध होता है।

पद तथा पदार्थ के सम्बन्ध ज्ञानको उपमिति कहते हैं, और उपमिति का करण उपमान होता है, इस प्रकार उपमिति का करण सादृश ज्ञान माना गया है। यथा– *'गो सदृशो गवयः'* गवय गाय के समान होता है, इस वाक्य के स्मरण से वन में गाय के समान शरीर को देखता है, तब उसे गवय स्वरूप नीलगाय का बोध होता है।

वाक्य के अर्थ का ज्ञान ही शब्दज्ञान नाम से कहा गया है, शाब्दज्ञान का कारण (असाधरण कारण) शब्द ही होता है, आप्त पुरुष द्वारा उच्चरित शब्द ही प्रमाण की कोटि में आता है, वस्तुतः यह आस्तिक न्यायदर्शन श्रुति को मुख्यतया शब्दप्रमाण के रूप में स्वीकार करता है। ईश्वरोक्त होने के कारण समग्र श्रोत शब्द, शब्द प्रमाण ही है, किन्तु लोक में रागादि से शून्य एवं पक्षपात आदि से रहित आप्त पुरुष का शब्द ही प्रमाण माना गया है।

अपने इस महान शास्त्र में महर्षि अक्षपाद गौतम ने समग्र पदार्थों का उद्देश्य, लक्षण एवं परीक्षा का प्रतिपादन किया है। प्रमा अर्थात् यथार्थज्ञान से जो प्रतिभाषित होता है उसे प्रमेय कहते हैं।

आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ (विषय) बुद्धि मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख एवं अपवर्ग ये द्वादश भेद प्रमेय के हैं।

न्यायदर्शन के तृतीय एवं चतुर्थ अध्यायों में प्रमेय की परीक्षा की गयी है, ज्ञान का अधिकरण आत्मा होता है, ईश्वर एव जीव रूप से आत्मा का द्वैविध्य सिद्ध होता है। ईश्वर एक ही है, जो सर्वज्ञ एवं सर्वव्यापक है, जैसा की श्रुति कहती है –

'यः सर्वज्ञः सर्ववित्'[6]

इस श्रुतिवाक्य में प्रयुक्त चारों पद एक वचनान्त हैं जो ईश्वर की एकता का प्रतिपादन करते हैं। जीवात्मा की सत्ता प्रत्येक देह में भिन्न भिन्न है, इच्छा द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख एवं ज्ञान ये आत्मा के ज्ञापक है। जीवात्मा के भोग का आधार शरीर होता है–

'यद् भोगायतनं तदेव शरीरम्'[7]

ज्ञान का साधन इन्द्रियाँ होती हैं। इन्द्रिय भोग वस्तु की संज्ञा अर्थ है, जैसे चक्षुरिन्द्रिय का रूप आदि।

बुद्धि, ज्ञान एवं उपलब्धि इन तीनों को महर्षि गौतम ने पर्याय माना है–

'बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्'[8]

सुखादि का साधन मन है, इसे अन्तरिन्द्रिय भी कहते हैं। वाचिक आदि क्रिया को प्रवृत्ति कहा गया है, जो प्रवृत्ति को उत्पन्न करते हैं, वे द्वेष माने गये हैं। न्यायशास्त्र राग द्वेष एवं मोह को दोष मानता है, तथा जीवात्मा को पुण्य या पाप में प्रवृत्त करते हैं। जन्म के अनन्तर मृत्यु एवं पुनः जन्म लेने का नाम प्रेत्यभाव है।

प्रवृत्ति एवं दोषों से उत्पन्न अर्थ फल माना गया है। प्रतिकूल वेदनीय दुःख है। आध्यात्मिक आदि भेद से दुःख तीन प्रकार का होता है। दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति अपवर्ग्य या मोक्ष है, तथा जन्म के अभाव को ही न्याय दर्शन अपवर्ग्य या मोक्ष है, तथा जन्म के अभाव को ही न्याय दर्शन अपवर्ग्य कहता है।

अनिश्चयात्मक ज्ञान संशय होता है, जिसको लेकर पुरुष की प्रवृत्ति होती है, उसकी संज्ञा प्रयोजन है, दृष्ट तथा अदृष्ट भेद से प्रयोजन द्विविध होता है। लौकिक परीक्षकों की बुद्धि जिस विषय में एकमत हो जाए वह दृष्टान्त होता है, अर्थात् जिसके द्वारा अन्त् निश्चय देखा जाता है यथा – **'यत्र धूमः तत्र अग्निः'**

प्रमाणिक रूप से सिद्ध अर्थ ही सिद्धान्त होता है, सिद्धान्त चतुर्विध है। प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय एवं निगमन भेद से अवयव पञ्चविध रूप में स्वीकार किया गया है। व्याव्य के आरोप से व्यापक पदार्थ का आरोप करना तर्क है। यथा – अग्नि के अभाव में धूम का अभाव।

यथार्थ अनुभव (प्रमिति) ही निर्णय है।

'विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः'[9]

अर्थात् पक्ष तथा विपक्ष का विचार करते हुए संदेह का निरसन पूर्वक तत्व का जो निश्चय है, वही निर्णय होता है। कथा विशेष को वाद कहा है, जो तत्व निर्णय में उपयोगी है। विजय की इच्छा से की गयी कथा जल्प कहलाती है, तथा ऐसी कथा से पक्ष एवं प्रतिपक्ष की भी रक्षा हो जाती है। वह कथा वितण्डा नाम से विश्रुत है, जिसमें अपने ही पक्ष की स्थापना न की गयी हो। असाधक हेतु हेत्वाभाष सव्यभिचार आदि पञ्चभेदात्मक है–

'हेतुवदाभाषन्ते ये ते हेत्वाभाषः'

अर्थात् जो हेतु के समान प्रतीत तो होते हैं, किन्तु साक्षात् साधक हेतु नहीं होते, जहां शब्द की शक्ति को परिवर्तित कर किसी का विरोध किया जाए, वह छल त्रिविध माना गया है। साधर्म्य एवं वैधर्म्य के आधार पर विरोध, जाति कहा गया है। पराजय प्राप्त करने के कारण को निग्रह स्थान माना गया है, यह निग्रह प्रतिज्ञा हानि आदि भेद से चतुर्विंशति प्रकार का है।

इस प्रकार संक्षेप में यह न्यायसंमत सोलह पदार्थों का विवेचन हुआ। न्याय विद्या का अपरनाम आन्विक्षिकी विद्या भी है, यह आन्विक्षिकी विद्या समस्त विद्याओं का प्रदीप है, सभी कर्मों का उपाय तथा समग्र धर्मों का आश्रय भी है–

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्व कर्मणाम।
आश्रयः सर्वधर्माणां विद्योद्देशे परीक्षिता।।[10]

यह शास्त्र परमपिता परमात्मा को जगत् का कर्ता मानता है।

'द्यावाभूमीजनयन् देव एकः'[11]

यह श्रुति वचन प्रमाण है।

निष्कर्षतः

यह कह सकते हैं कि—कार्य को देखकर कारण का बोध होता है, इस विराट् विश्व का निर्माता ईश्वर के अतिरिक्त और कोई संभव नहीं हो सकता, क्योंकि जगत् की रचना, जिसके अन्तरगत् सूर्य चन्द्रादि ग्रह नक्षत्र है, वह बुद्धिपूर्वक ही की गयी है। यह शास्त्र पृथिवी आदि के नित्य परमाणुओं से अनित्य पृथिव्यादि की उत्पत्ति मानता है, और ये परमाणु प्राकृत हैं, इस प्रकार इस दृश्यजगत् के उपादान कारण के रूप में प्रकृति को ही मानता है, अर्थात् प्रकृति ही जगत् का उपादान कारण है एवं परमात्मा निमित्त कारण।

संदर्भ स्रोतः

[1]. वात्स्यायनकृत न्यायभाष्य 'द्रष्टव्य' तर्कभाषा, गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर चौखम्बा सुरभारती, पृ. सं. 23

[2]. बृहदारण्यकोपनिषद् 2/4/5 शाङ्करभाष्य, गीताप्रेस गोरखपुर, पृ. सं. 546

[3]. ईशादि नौ उपनिषद्, श्वेताश्वतरोपनिषद् 3/8 गीताप्रेस गोरखपुर, पृ. सं. 438

[4]. आद्यगुरूशङ्कराचार्यकृत भजगोविन्दम्,

[5]. तर्कसंग्रह अन्नंभट्टकृत, व्याख्याकार गोविन्दाचार्य, प्रत्यक्षखण्ड, चौखम्बासुरभारती प्रकाशन, पृ. सं. 153

[6]. ईशादि नौ उपनिषद्, मुण्डकोपनिषद् 2/2/7 गीताप्रेस गोरखपुर, पृ. सं. 235

[7]. तर्कभाषा, केशवमिश्र, प्रमेय प्रकरण, गजानन शास्त्री मुसलगॉवकर, चौखम्बा सुर भारती पृ. सं. 235

[8]. गौतममुनिकृत न्यायदर्शन 1/1/15 आचार्य उदयवीर शास्त्रीकृत विद्योदय भाष्य, विजय कुमार गोविन्द राम हासानन्द, पृ. सं. 45

[9]. गौतममुनिकृत न्यायदर्शन 1/1/41 आचार्य उदयवीर शास्त्रीकृत विद्योदय भाष्य, विजय कुमार गोविन्द राम हासानन्द, पृ. सं. 81

[10]. न्यायसूत्र भाष्य 1/1/1

[11]. ऋग्वेद 10/81/3 द्रष्टव्य ब्रह्मसूत्र विद्योदय भाष्य, पृ. सं. 59